

स्वामिनारायण संतसाहित्य में ‘‘वैराग्य’’

प्रा. डॉ. ऋषिकेश रावल

मध्यकाल में जब अराजकता का साम्राज्य था तब स्वामिनारायण सम्प्रदाय ने गुजरात के छोटे-छोटे गाँवों की श्रमजीवी प्रजा में फैलकर उनके धर्म और संस्कार को गढ़ने में अमूल्य योगदान दिया है। इस सम्प्रदाय के गोपालानन्द, नित्यानन्द और शुकानन्द जैसे कई साधुओं ने संस्कृत ग्रंथोंकी रचना की, तो मुक्तानन्द, ब्रह्मानन्द, प्रेमानन्द, निष्कुणानन्द और देवानन्दजी ने इस सम्प्रदाय के आधारस्तम्भ समान भक्ति, ज्ञान, कर्म और वैराग्य के विषय पर हजारों पदों की रचना की और इस तरह मध्यकालीन गुजराती कविता में स्वामिनारायण सम्प्रदाय की संतकविता का गौरवपूर्ण स्थान रहा है और इस में भी वैराग्य का स्थान अति गौरवपूर्ण रहा है।

त्याग-वैराग्य की छटा और परत्पर भक्ति स्वामिनारायण सम्प्रदाय के संतो के द्वारा रची गई कविताओं में स्पष्ट दिखाई देती है। इस सम्प्रदाय के संस्थापक सहजानन्द जी ने त्याग-वैराग्यकी परिभाषा उनकी रचना ‘शिक्षापत्री’ में इस तरह दिया है कि – ‘‘ईश्वर के सिवा कहीं भी प्रीति नहीं, वो वैराग्य’’^१ ‘‘वैराग्यं संयम प्रीतिः श्रीकृष्णोत्तरवस्तुषु’’ यह वैराग्य इस दुन्यवी जगत के संकटो एवं दुःखों की परेशानी में से नही पैदा होता, सांसारिक दुःखों से परेशान होकर वैरागी होना, यह तो सांसारिक जिम्मेदारी में से भागने का एक सरल बहाना है। सच्चा वैराग्य तो जगत के स्वरूप के सच्चे ज्ञान में निष्पन्न होता है। स्वामी निष्कुलानन्दजी ने अपनी एक प्रसिद्ध रचना में त्याग और वैराग्यभाव का सूक्ष्म विवेक ऐसे स्पष्ट किया है कि वैराग्य त्याग के मूल में है, जब तक सच्चा वैराग्य पैदा नहीं होता तब तक त्याग का कोई अर्थ नहीं रहता। जब तक काम, क्रोध, मोह, लोभ अपनी जड़ से नहीं जाता तब तक त्याग पैदा नहीं होता –

त्याग न टके वैराग्य विना, करे कोटि उपाय जी,

अन्तर ऊड़ी जे ईच्छा रहे, ते तो केम त्यजाय,

काम, क्रोध लोभनुं, ज्या लगी मूल न जाय जी,

संग प्रसंगे ते उपजे, इन्द्री विषय आकारं जी

उपर तजे ने अंतर भजे अेम न सरे अर्थ जी,

ते वरण ने आश्रम थी अंते करणे अनर्थ जी,

हरिभक्त को योग, भक्ति, वैराग्य और त्याग से ही अपने मन की तंदुरुस्ती प्राप्त करनी चाहिए। स्वामिनारायण सम्प्रदाय भक्तिप्रधान सम्प्रदाय है, यही भक्ति के साथ वैराग्यभाव का प्रगाढ़ सम्बन्ध है, स्नेह और वैराग्य परस्पर विरोधी नहीं है, बल्कि वैराग्य में स्नेह को विशुद्ध और उदात्त करने की शक्ति है। इस वैराग्य से ही सच्चे त्यागी और ईश्वरानुगी हो सकते हैं; स्वामि प्रेमानन्द जी ने अपनी रचना में सहजानन्दजी को प्रार्थना करते हुए यही बात समझायी है कि– ‘‘प्रीत रहे तव चरणमां, बीजे रहे सदा विरक्ति।’’^२

परमात्मा के प्रति अव्यभिचारिणी – एकांतिकी भक्ति के लिए वैराग्य अनिवार्य है और वो वैराग्य तन मन की क्षणभंगुरता की समझ में से ही पैदा होता है। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने अपनी एक रचना में यही बात बताई है कि – यह शरीर तो एक पंतगे की तरह क्षणभंगुर है– यौवन, धनसम्पत्ति, सत्ता यह सभी चीजें नाशवान है फिर भी मनुष्य मोहवश होकर इन क्षणभंगुर चीजों में ही अपना सर्वस्व सुख समझ लेता है, बाद में जब उसके दुष्परिणाम आते हैं तब उसको प्रायश्चित्त होता है। जीवन में जो कुछ दुन्यवी तुच्छ है इसको पहचानकर उसका त्याग करने में से ही सच्चा ज्ञान होता है– जैसे कि

‘‘आ तन-रंग पतंग सीरखो, जातां वार न लागे जी,

असंख्य गया धन-सम्पत्ति मेली, तारी नजरुं आगे जी।’’^३

उत्कृष्ट चीज की प्राप्ति के लिये त्याग की आवश्यकता है। त्याग और बलिदान की भावना से ही ईश्वर को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने त्यागी को ही वीरपुरुष कहा है, वो धर्मवीर है, क्योंकि त्यागी में निर्भयता, वीरत्व और सर्वसमर्पण की शक्ति होती है। सच्चा वैरागी मन, वचन और कर्म से ईश्वर को समर्पित होता है। जिसे ईश्वर के प्रति अनन्य निष्ठा है वो संसार के आधि-व्याधि और उपाधि से डरकर अपने प्राण जाने की भी चिंता किये बिना त्याग के मार्ग में से विचलित नहीं होता, ‘‘कार्यसाधयामि देहम् पातयामि वा’’^४ ब्रह्मानन्दजी ने इस बात को इन रचना में निर्देशित किया है –

रे शिर साटे नटवरने वरीअे ,

रे पाछां ते पगलां नव भरीअे।

‘‘टेक न मेले रे, ते मरद खरा जग मांही ,’’

त्रिविध ताप रे, कदी अन्त डोले नाही’’

स्वामि मुक्तानन्दजी ने भी इस बात की पुष्टि करते हुए कहा है कि त्यागी पुरुष धर्मयुद्ध की भूमि पर लड़ने वाला वीरपुरुष है, और वो युद्ध मोहमाया जैसे दुश्मनों के सामने है। भगवद्गीता में भी काम, क्रोध, लोभ, मोह और मात्सर्य यह छः आन्तरिक दुश्मन (षड्रिपु) दर्शाया है।^५ जो पुरुष इन छः दुश्मनों को पराजित करता है वो ही इस धर्मयुद्ध में विजेता होकर सच्ची मुक्ति का आनन्द प्राप्त कर सकता है। बाहर के दुश्मनों को पराजित करना आसान है लेकिन अपने मन के अन्दर छुपे हुए छः दुश्मनों को जीतना बड़ा कठिन है, संसार के महान गुणीजन और ज्ञानीजन भी अपने अन्दर के षड्रिपुओं को नहीं पराजित कर सके विश्वामित्र-मेनका और शिव-भीलड़ी उसका श्रेष्ठ द्रष्टांत है। जो धर्म के युद्ध में इन षड्रिपुओं को परास्त करके मुक्ति पद प्राप्त करता है ऐसे संतो को ही धर्मवीर कहा जाता है।

“काम ने क्रोध मद लोभ दणमां मुखी,
लडवा तणो नव लाग लागे
जोगिया जंगमां त्यागी तपसी घणां
मोरचे गये धर्मद्वार मागे”

स्वामी निष्कुलानन्दजी ने अपनी गौरवपूर्ण अध्यात्म परम्परा में से राजा गोपीचन्द, ध्रुव, भर्तृहरि जैसे कई महापुरुषों ने जो त्याग किया था उसका दृष्टान्त दिया है। ‘जननी जीवो रे गोपीचन्दनी’ नामक रचना में राजा गोपीचन्द को स्वयं अपनी माता ने इस संसार की मोहमाया को त्याग की अग्नि में भस्मीभूत करके वैराग्य का मार्ग दिखाकर अपना सच्चा मातृधर्म अदा किया था। इस संसार की धनदौलत स्वप्न जैसा क्षणिक है। जो मनुष्य इस क्षणिक चीजों को वैराग्य से छोड़कर शाश्वत तत्त्व-परमात्मा से अनुसंधान करता है वो परमात्मा के संग से ही अपनी जीत निश्चित करता है। एक माता ने अपने पुत्र का प्रेय नहीं लेकिन श्रेय देखा और वो श्रेयोमार्ग अमृतमार्ग की ओर उसे प्रेरित किया। यही बात निष्कुलानन्दजी ने इस रचना में स्पष्ट की है –

“जननी जीवो रे गोपीचन्दनी, पुत्र ने प्रेयो वैराग्य जी
उपदेश आप्यो हणी पेरे, लाग्यो संसारीडो आग जी
एवा छत्रपति चाली गया, राज मूकी राजनजी
देवदानव मानव मुनि, सरवे जागो सुपनजी”

जिस ने देहभाव-अहंभाव का त्याग किया हो ऐसे सन्त विरल होते हैं, वो ही ‘सुजागसम्यग’ ज्ञानी बन सकते हैं। स्वामि निष्कुलानन्दजी ने संत-भक्त के हृदय को ही भगवान का रूपक दिया है। भगवान एक सच्चे वैरागी पुरुष की आँख की आँख और हृदय होता है। वैरागी संत पुरुष ही भक्ति, वैराग्य, ज्ञान और धर्म सभी का परमधाम रूप होते हैं। इसी कारण तो उनकी वाणी में वैराग्य का भाव सहज है क्योंकि उनकी वैरागी वृत्ति ईश्वर के प्रति उनके गहन स्नेह के कारण प्रगट होती है। यह वैराग्य भाव उनके अन्तर मन से प्रगटता है। ये कोई दिखावा नहीं है, यह संत की वाणी को शील, संतोष और शान्ति की मर्यादा होती है। वो जो कुछ भी बोलता है उसमें उनकी आन्तरिक स्वस्थता प्रगट होती है। उन्होंने जो त्याग किया है उसमें से ही भक्ति, धर्म और वैराग्य आता है। यही बात इन पंक्तियों में निर्देशित किया है—

“जेनुं तन-मन मान्युं रे, भक्ति धर्म भावे रे,
तेनां वचन वीटया वैराग्ये रे, अन्तरमांथी आवे रे”
धर्म भक्ति वैराग्य ने ज्ञान, जे तेने रहेवानु संत छे ठाम,
एम संतमां रह्या छे श्री हरि, माटे संत छे सुखनुं धाम

ज्ञान, भक्ति, कर्म और नीति ये धार्मिक जीवन के आवश्यक तत्त्व हैं। इन तीनों तत्त्व के मूल में वैराग्य है। वैराग्य के पीछे-पीछे ही बाकी के सभी तत्त्व गाय और बछड़े की तरह चले आते हैं। इन तीनों तत्त्वों को सिद्ध करने के लिए इन्द्रियनिग्रह और मनोनिग्रह की स्वाभाविक रूप में जरूरत पड़ती है और भगवद्गीता में भी यही बात समझायी गयी है कि “वैराग्य से ही स्वयं का निग्रह शक्य बनता है। साधक को विषयभोग का त्याग करना ही पड़ता है इसलिए निष्कुलानन्दजी ने कहा है कि “त्याग न टके वैराग्य बिना” भक्त कवि नरसिंह मेहता ने भी अपनी रचना ‘वैष्णवजन’ में भक्त के लक्षणों में धर्म के इन चारों तत्त्वों को निर्देश किया है और उसमें वैराग्य-त्याग को भी अति आवश्यक तत्त्व बताया है।”

ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग ये तीनों मार्ग मनुष्य को ईश्वर के प्रति ले जाता है। यह तीनों में से किसी भी मार्ग से प्रयाण करने वाले व्यक्ति को अपने मन में वैराग्य का भाव दृढ़ करना आवश्यक है। सांसारिक चीजों के त्याग बिना धर्म के मार्ग पर चला नहीं जा सकता। इसलिए वैराग्य ही ऐसी चुनौती है जो सच्चे अर्थ में मनुष्य को त्यागी बनाता है, और यही भाव स्वामिनारायण सम्प्रदाय की संतकविता में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

व्याख्याता : गुजराती विभाग
जी. डी. मोदी कालेज ऑफ आर्ट्स,
पालनपुर

सन्दर्भ ग्रंथ

१. स्वामिनारायण संतकविता ले. डॉ. चन्द्रकान्त शेट
२. प्रारम्भिक तत्त्वचिंतन ले. डॉ. उमेश याज्ञिक
३. भक्त चिंतामणि ले. स्वामिनारायण प्रकाशन समिति
४. श्री निष्कुणानन्द काव्य ले. श्री स्वामिनारायण मन्दिर, कच्छ
५. उपदेशामृत ले. श्री स्वामिनारायण गुरुकुल, राजकोट
६. श्री हरिवन विवरण ले. घनश्याम स्वरूपदासजी शास्त्री



धार्मिक जीवन में पंचकोष का महत्व

डॉ. इन्दु परमार

मनुष्य एक धार्मिक प्राणी है। वह धर्म के बिना नहीं रह सकता है। धर्म का केन्द्र बिन्दु ईश्वर विचार हैं। चरमसत्ता तथा मनुष्य बीच सम्बन्ध स्थापित करना धर्म का उद्देश्य है। अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति मानव को कैसे हो सकती है? मानव अपने में छिपे आत्मतत्व का साक्षात्कार कैसे कर सकता है? अपने सदगुणों का विकास कैसे कर सकता है? संक्षेप में धर्म, ज्ञान, भावना और कर्म तीनों का समन्वय हैं। इस प्रकार धर्म मानव जीवन में आवश्यक और अवियोज्य रूप से सम्बद्ध है।

महावाक्यों में प्रसिद्ध महावाक्य है “अयम् आत्मा ब्रह्म” इसका अर्थ है आत्मा ही ब्रह्म है। हमारे भीतर जो आत्मा है वह प्रकटतः जीवों में आबद्ध है। जन्म जन्मान्तर तक वह एक घेरे को छोड़कर अन्य घेरे में प्रवेश करती रहती है। अज्ञानरूपी आवरण एक पर्दे की तरह आत्मरूपी दीप के आगे फैला है। सभी धर्म और आध्यात्म जगत इसी अज्ञानरूपी आवरण को समझाने काटने और हटाने के प्रयास में लगा है। आत्मा की अनुभूति ही ब्रह्मानुभूति है वही मोक्ष हैं।

यह जिज्ञासा सहज उत्पन्न होती है कि जब आत्मतत्व इतना निकट है, हममें ही छिपा हुआ है तो इसका अनुभव हम साधारण मानव को क्यों नहीं होता। पार का तत्व जब हममें ही आवद्ध हैं, हममें कैद है वही हमारा चैतन्य है वही हमारा साक्षी है तब फिर इसका अनुभव क्यों नहीं हो पाता है। प्रश्न जितना सरल है इसका उत्तर उतना सरल नहीं है। इसके लिए जागरूकता लानी होगी, वास्तविक जिज्ञासा अपने अन्दर उत्पन्न करनी होगी।

आईये हम अपने शरीर में व्याप्त “पंच कोष” की चर्चा करें जिसके पार जाने से आत्म तत्व की थोड़ी झलक मिलनी हमें प्रारम्भ हो जाती है। मनुष्य का व्यक्तित्व बहुत सारी परत से निर्मित हुआ है। इन परतों का सम्यक बोध, इन्हें पार करने में हमारी सहायता करना है। आत्मबोध के रास्ते में यही परतों ने आवरण का काम किया हुआ है। उपर से मनुष्य जैसा दिखलायी पड़ता है वह उसका पूरा शरीर नहीं है। यह पंचशरीरों की पहली परत हैं। पंच कोषों में पहला कोष ‘अन्नमय कोष’ कहलाता है। यह शरीर माता-पिता से उपलब्ध होता है। यह एक लम्बी परम्परा है। हजारों शरीरों ने हजारों बार इस शरीर रूपी परत का निर्माण किया होगा। इसे “अन्नमय कोष” इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसके निर्माण की प्रक्रिया

में भोजन की बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका है। यही कारण है कि धर्म और अध्यात्म की ओर अग्रसर होने वाले पथिक के लिए शुद्ध भोजन की आवश्यकता पर बल दिया जाना है। शुद्ध भोजन से तात्पर्य यह है कि साधक का शरीर जिस भोजन से निर्मित हो वह उसकी अर्न्तयात्रा में बाधा न डालें। वह पारदर्शी बना रहे। आवरण का काम न करें। अशुद्ध भोजन एक दीवार खड़ी करता है और इससे भीतर जाने में बाधा उत्पन्न होती है तथा भीतर की झलक मिलनी बन्द हो जाती है। सात्विक भोजन और असात्विक भोजन से यही तो अभिप्राय है। सात्विक भोजन से हमारा शरीर पारदर्शी हो सकता है और असात्विक भोजन से शरीर एक स्थूल दीवार निर्मित करता है। यदि प्रथम परत को पारदर्शी हम बना लें तो दूसरी परत की झलक मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। हमारे शरीर में करोड़ों रोल हैं और हम उसे कैसा भोजन दे रहे हैं, इस रोलों की क्या मांग पूरी करते हैं। इस पर आपका जीवन टिका है। असात्विक भोजन से, भीतर जाने में ही अन्नमय कोष बाधा बन जाता है। सात्विक भोजन से तात्पर्य यह है कि भोजन आपके शरीर में ऊर्जा उत्पन्न करें, उसका पोषण करें किन्तु उसमें विकृति, मूर्च्छा एवं पागलपन या नशा उत्पन्न न करें। क्योंकि जिस मात्रा में शरीर में अन्नमय कोष के माध्यम से मूर्च्छा पैदा होगी उसी मात्रा में हमारा अन्नमय कोष विकृत हो जाता है। परिणाम यह होना है अन्दर की यात्रा में यह आवरण का काम करता है। साधक के भोजन की चिन्ता जितनी भारतीय धर्मों में की गयी है शायद दूसरे धर्मों में नहीं। इसलिए अन्तर्यात्रा यदि करनी है तो शरीर बदलना होगा, उसकी परतों को तोड़ना होगा। तभी अन्दर गति हो सकती है।

शरीर के दूसरे कोष की ‘प्राणमय’ कोष कहा जाता है। शरीर के पीछे जो छिपा है वह प्राण शरीर है। जैसे ही अन्नमय कोष के जरिये हमारा शरीर पारदर्शी हो जाता है वैसे ही “प्राणमय” कोष की झलक मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। यह प्राणमय शरीर उर्जा द्वारा निर्मित होता है। शक्ति जो हमें सूर्य, और ब्रह्माण्ड तथा पंचतत्व की अनन्त सूक्ष्म तरंगों द्वारा प्राप्त होती है। प्राणमय कोष की शुद्धि से वह तीसरे शरीर की ओर जागृत होने लगता है। जैसे-जैसे पारदर्शिता में वृद्धि होती है वैसे-वैसे दूसरे परतों की झलक मिलती जाती है। तीसरा शरीर जिसे ‘मनोमय कोष’ कहते हैं वह निर्मित होता है विचारों की तरंगों से। महात्मा बुद्ध कहते हैं “जैसा तुम सोचोगे वैसे तुम हो जाओगे।” आज हम जो हैं वह हमारे सोच का परिणाम है। जैसी दृष्टि जैसे विचार वैसी सृष्टि। विचार-भीतर जाकर एक देह का निर्माण करते हैं।

भाषा, शब्द, विचार सब हमारे मनोमय कोष के निर्माण में सहायक है। व्यक्तित्व जितना अधिक मृदुभाषी, सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित होगा उसकी मनोमय देह उतनी ही शुद्ध पारदर्शी एवं विकसित होती है। साधारण मानव अपनी मनोमय देह के निर्माण में ही असावधानी बरतते हैं और जीवन एक उपद्रव बन जाता है। जाने-अनजाने जो हमारे विचार के माध्यम से मन में उतरता है वह सब देह का निर्माण करते है। इसी कारण अष्टांगिक मार्ग में 'सम्यक व्यायाम' की महत्ता को बताया गया है। महावीर स्वामी ने "भावबन्ध" की चर्चा इसी कारण की है। दूषित विचारों का प्रवेश ही मन में होना भावबन्ध कहलाता है।

“अन्नमय कोष” और “मनोमय कोष” के मध्य है “प्राणमय कोष।” यही कारण है मृत्यु की अवस्था में “मनोमय कोष” नूतन यात्रा में निकल जाता है जबकि शरीर पड़ा रहता है। मृत्यु में स्थूल देह नष्ट होती है सूक्ष्म या “मनोमय देह” नहीं।

मनोमय कोष की शुद्धि के ही पश्चात व्यक्ति का अन्दर में प्रवेश हो सकता है। मनोमय कोष की शुद्धि अशुद्ध विचारों को हटाने एवं शुद्ध विचारों को भरने से होती है। मानसिक जगत के क्रियाकलापों की शुद्धता से ही मनोमय कोष पारदर्शी बनता है। तब हम विचारों का उपयोग, भाषा का उपयोग एक उपकरण की भांति करते हैं। यहां विचारों से ऐसी सामंजस्यता होती है कि विचार हमारे दास होते हैं हम विचारों के स्वामी होते हैं।

चौथा शरीर है “विज्ञानमय कोष”। इस शरीर का निर्माण होता है होश से, चैतन्य से, बोध से। जैसे ही विचारों में सामंजस्यता आती है हम विचारों के साक्षी होते हैं। एक साक्षी भाव हममें कायम होता है। हमारे चैतन्य के आकाश में विचार बादलों की भांति दिखलायी पड़ते हैं। यहाँ विचारों से तादात्म्य टूटता है। हम साक्षित्व को उपलब्ध हो सकें तो हमें चौथे शरीर का ज्ञान होने लगता है। लेकिन हमारी विडम्बना यही है कि हम प्रथम शरीर में ही अटके रह जाते हैं। इसलिए दूसरे पतों का ज्ञान नहीं हा पाता है। बिना दूसरे शरीर के बोध के तीसरे और तीसरे के बोध के बिना चौथे शरीर का ज्ञान होना असम्भव है। चौथे शरीर के बोध होने से उसके विकसित होने से तीसरा शरीर विखरने लगता है। ध्यान, साधना, प्राणायाम, समाधि बोध आदि से चौथा शरीर जाग सकता है। ध्यान, चैतन्य का विस्तार और शुद्धि करता है, उसकी वृद्धि करता है। ध्यान से जैसे ही चौथा शरीर जागता है वैसे ही पांचवा कोष जिसे “आनन्दमय कोष” कहते हैं उसका नाद-निनाद सुनाई पड़ता है। यह आनन्दमय

काया ही चैतन्य का शुद्धतम, शुभ्रतम रूप है। यह कभी अशुद्ध होती ही नहीं। यही तो कारण है कि आनन्द के विपरीत हमारे पास कोई शब्द नहीं है। आनन्द ही आत्म साक्षात्कार है। आनन्द की प्राप्ति ही आत्म प्राप्ति है। सच्चिदानन्द का आनन्द ही शुद्ध आनन्द है। यही प्रज्ञानं ब्रह्म की “अयम् आत्मा ब्रह्म” की साक्षात् अनुभूति है इसे ही मोक्ष की संज्ञा दी गयी है। इसी अनुभूति की प्राप्ति होने पर साधक कह उठता है “अहं ब्रह्मास्मि”।

व्याख्याता, दर्शन विभाग।

योगदा सत्संग महाविद्यालय, रांची



अहिंसा की प्रासंगिकता : गांधी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० अखिलेश्वर प्रसाद दूबे

“अहिंसा” का सम्प्रत्यय भारतीय विचार परम्परा को गांधी जी की कोई नवीन देन नहीं है। तथापि, गांधीजी ने अहिंसा को अन्तर्मन की जिस गहराई से स्वयं अंगीकार किया एवं जितनी विस्तृत और गम्भीर व्याख्या की उससे अहिंसा के नये आयाम उदघाटित हुए हैं। गांधीजी के पूर्व अहिंसा केवल उस धर्म की वस्तु रह गयी थी जिसका सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से ही था, इहलौकिक जीवन से नहीं। महात्मा गांधी के लिये अहिंसा केवल दर्शन नहीं है वह व्यवहारिक भी है और इस अर्थ में वे स्वयं को व्यवहारिक आदर्शवादी कहते थे।^१ अहिंसा सम्बन्धी गांधी जी के विचारों का मूल मन्तव्य, अहिंसा का व्यावहारिक पक्ष और प्रासंगिकता जानने का प्रयास यहाँ हमारा अभिधेय है।

‘अहिंसा शब्द हिंसा’ का प्रतिलोम भाव है जिसका शाब्दिक अर्थ है— हिंसा से परे रहना। गांधीजी के लिए यह व्याख्या स्वीकार्य नहीं है क्योंकि वे अहिंसा का व्यापक और गूढ़ अर्थ लेते हैं। किसी का वध या शारीरिक आघात ही हिंसा नहीं है। मन, वचन और कर्म से हिंसा न करना इसका विशद भाव है। यद्यपि, यह अर्थ स्वयं सारगर्भित है, किन्तु गांधी जी इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हैं। वे इसे और आगे बढ़ाते हुए कहते हैं अहिंसा प्राणीमात्र के प्रति स्वयं कष्ट सहकर सदाचरण और सद्भावना का पाठ पढ़ाने वाली प्रक्रिया भी है।^२ उनके विचार में अहिंसा केवल साधारण जीव दया ही नहीं अपितु अहंत्व के परित्याग की सोच भी इसमें शामिल है। उनकी दृष्टि में वह सब हिंसा है जिसका जन्म अहं के भाव से होता है। वे कहते हैं कि हिंसा एक मनःस्थिति है जो विशेष प्रकार की प्रवृत्ति (असुरक्षा, भय, क्रोध) से उत्पन्न होती है। इन सबके विपरीत उनका अहिंसा का विचार विपरीत मनःस्थिति प्रवृत्ति, पथ और कार्य का द्योतक है। वह स्वार्थ, अहंकार, भौतिक भोगों की लोलुपता से उँचे उठकर अपने व्यक्तित्व का विसर्जन विराट के हित में कर देने में है। अपना विकास, अपनी प्रगति और अपना निःश्रेयस देखने में है। इस प्रकार की अहिंसा को वे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का मूल आधार बनाना चाहते हैं।^३ यह अहिंसा मानव जीवन के समस्त पक्षों— सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक— राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रयुक्त होती है।

गांधीजी अहिंसा के सम्बन्ध में बुद्धि का प्रयोग आवश्यक मानते हैं किन्तु इसका यह

१०

वर्ष ५२ — दार्शनिक त्रैमासिक — अंक २

अर्थ कदापि नहीं है कि अहिंसा एकमात्र बुद्धि का ही विषय है। भक्तिभाव और ईश्वर के प्रति आस्था के अभाव में अहिंसा व्यक्ति के लिए बेकार है।^४ अर्थात् श्रद्धा, भक्ति और प्रार्थनाओं का विशिष्ट स्थान अहिंसा के लिए आवश्यक है। ऐसा सम्भवतः इसलिए क्योंकि इन क्रियाओं का पालन और अभ्यास व्यक्ति को नम्र तो बनाता ही है साथ ही अहं भाव से भी मुक्ति दिलाता है। नम्रता की चरम सीमा ही गांधीजी की अहिंसा है।

अहिंसा का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए वे सकारात्मक और नकारात्मक रूप में अहिंसा का वर्गीकरण करते हैं। सकारात्मक अहिंसा से उनका तात्पर्य सर्वोच्च प्रेम तथा त्याग से है। अहिंसा का यह रूप शत्रु तथा मित्र का भेद नहीं करता। इसके विपरीत नकारात्मक अहिंसा किसी भी प्राणी को शारीरिक और मानसिक कष्ट न पहुँचाना है। किसी भी अनुचित कर्म में प्रवृत्त अथवा हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति को बदलने की भावना से हानि पहुँचाना अथवा उसके प्रति दुर्भावना रखना भी हिंसा है। अतएव किसी के अहित की कामना न करना नकारात्मक अहिंसा है।^५

सामान्यतः चार स्तरों पर अहिंसा के प्रयोग की चर्चा गांधी जी ने की है। प्रथम — किसी स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध अहिंसा का प्रयोग यथा विदेशी शक्ति के विरुद्ध अहिंसक संघर्ष। द्वितीय— समाज के अन्दर विभिन्न समुदायों के पारस्परिक झगड़ों में अहिंसा का प्रयोग जैसे साम्प्रदायिक दंगों में अहिंसा का व्यवहार। तृतीय — किसी विदेशी आक्रमण से बचाव करने के लिए अहिंसा का प्रयोग। चतुर्थ — मनुष्य के निजी अथवा आपसी सम्बन्धों में अहिंसा का प्रयोग। उदाहरण के लिए परिवार या पड़ोस के सम्बन्धों में अहिंसक आचरण। वे कहते हैं अहिंसा का अनुसरण छोटे समुदायों में अधिक आसानी से हो सकता है लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनकी दृष्टि में राज्यों, राष्ट्रों या अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों में अहिंसा अव्यवहार्य है। वे कहते हैं अहिंसा कभी शक्ति या सत्ता पर कब्जा नहीं कर सकती, किन्तु उससे बड़ा काम कर सकती है वह है, शक्ति अथवा सत्ता को प्रभावकारी ढंग से नियन्त्रित तथा निर्देशित करना।^६

गांधी जी की आलोचना इस बात को लेकर होती है कि उनका यह सिद्धान्त केवल गुलाम देशों में ही प्रयुक्त हो सकता है और वहीं कारगर भी है। प्रभुता सम्पन्न स्वशासित देशों में अहिंसा की शक्ति को परखने की सम्भावना उनके विचार में नहीं थी। यह सत्य नहीं है, लेख में पूर्व वर्णित चार स्तर इसका प्रमाण है। इसके अतिरिक्त अनेक अवसरों पर गांधी जी

ने कहा है कि जो सिद्धान्त ब्रिटिश साम्राज्य जैसे शक्ति सम्पन्न संस्था के विरुद्ध स्वतन्त्रता प्राप्त करा सकता है, वह उस स्वतन्त्रता को कायम भी रख सकता है। उनकी मान्यता थी कि खूनखराबा रोकने के लिए हिंसक सेनाओं के स्थान पर शान्ति सेना स्थापित की जानी चाहिए।^{१०}

अहिंसा सम्बन्धी इस आवश्यक व्याख्या के पश्चात् अहिंसा के सम्बन्ध में और अधिक जाने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, यथा – क्या अहिंसा का अर्थ कायरता है ? जैसा कि सामान्यतः इसका अर्थ समझा जाता है। क्या गांधी जी की अहिंसा सम्बन्धी अवधारणा व्यावहारिक है ? आदि।

गांधीजी की अहिंसा कायरता नहीं हो सकती क्योंकि अहिंसक होने के लिए पुरुषार्थी होना आवश्यक है। यह एक साधना है। अहिंसक वह है जो मृत्यु वरण करने से नहीं डरता। किसी के अत्याचार के सामने नतमस्तक होना कायरता है। एक अहिंसक अनाचार का दृढ़ता से सामना करता है। वह अनाचार के सामने तन-मन न्यौछावर करने के लिए तैयार रहता है।^{११} अहिंसा और कायरता दो विपरीत ध्रुव हैं। अहिंसा एक सद्गुण है, जिसका मूल प्रेम है। कायरता एक दुर्गुण है, जिसका आधार घृणा है। अहिंसक कभी किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता इसके विपरीत कायर कष्ट पहुँचाने में विश्वास रखता है। कायरता को गांधी जी निम्नतम मानते हुए कहते हैं कि एक हिंसक को अहिंसक बनाया जा सकता है किन्तु कायर व्यक्ति को नहीं। उनके विचारों को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यह कथन पर्याप्त है— यदि मुझे कायरता और हिंसा में से किसी एक को चुनना पड़े तो मैं हिंसा को पसन्द करूँगा।^{१२}

गांधीजी अहिंसा का शाब्दिक अर्थ ग्रहण नहीं करते। वे अहिंसा के व्यवहारिक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं और यही उनके सिद्धान्त की सफलता भी है। वे यह मानते हैं कि जीवन में कोई भी पूर्णतः अहिंसक नहीं हो सकता। उनकी अहिंसा जैन धर्म की अहिंसा नहीं है इसलिए बार-बार वे अहिंसा में बुद्धि के प्रयोग पर विशेष बल देते हैं। दैनन्दिन जीवन में व्यक्ति को आत्मरक्षा, हिंसक विषैले, जीव-जन्तुओं, अपने उपर आश्रितों, मृत्युतुल्य कष्ट भोगते प्राणियों को मृत्यु प्रदान करने, कृषकों द्वारा फसलों की रक्षा हेतु की गई हिंसा, हिंसा नहीं अहिंसा है। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि अनिवार्य हिंसा विवेकपूर्ण होना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में अहिंसा का अर्थ है— जीवन के लिये आवश्यक हिंसा के परित्याग का प्रयत्न।^{१३}

अहिंसा की उपरोक्त व्याख्या के पीछे हमारा उद्देश्य अहिंसा सिद्धान्त की मूल भावना को समझना है। इससे जुड़े कुछ और प्रश्नों एवं उनके समाधान पर प्रकाश डालना भी आवश्यक है जैसे किसी निरंकुश, शक्तिशाली व हिंसा पर उतारू राष्ट्र से एक प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र को अपनी रक्षा कैसे करना चाहिए ? अथवा अलगाववादी साम्प्रदायिक ताकतों या आतंकवादी संगठनों से देश की रक्षा हेतु क्या करना चाहिए ? ऐसी स्थिति में क्या राष्ट्र की रक्षा न करना कायरता नहीं है ?

इन सभी प्रश्नों का सीधा सम्बन्ध राष्ट्र की सम्प्रभुता से है। एक सम्प्रभु राष्ट्र होने का सीधा अर्थ है कि उस राज्य अथवा राष्ट्र ने अपने देशवासियों के हित में जो भी नियम-कानून बनाये हैं उन्हें उस राष्ट्र के निवासियों ने मान्य किया है साथ ही उसे स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में विश्व के अन्य राष्ट्रों से भी मान्यता प्राप्त है। इस तरह प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्र आन्तरिक और बाह्य सम्प्रभुता सम्पन्न होता है। इस प्रकार के राष्ट्र को यदि अलगाववादियों, आतंकवादियों या साम्प्रदायिक तत्वों से अस्थिर होने का संकट उत्पन्न होता है तब इससे राष्ट्र की आन्तरिक सम्प्रभुता प्रभावित होती है। यदि किसी अन्य शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा ऐसे सम्प्रभु राष्ट्र पर जबरन आक्रमण द्वारा हिंसा थोपी जाती है तो इससे उस राष्ट्र की बाह्य सम्प्रभुता खतरे में पड़ती है। इस प्रकार राष्ट्र की सम्प्रभुता के लिए उत्पन्न संकट का सामना किस प्रकार किया जाये ? यदि यह प्रश्न गाँधी जी के समक्ष रखा जावे तो वे निश्चित रूप से इसके समाधान हेतु अपने अहिंसा सिद्धान्त को ही प्राथमिकता देंगे, उदाहरणार्थ— वर्तमान सदी के प्रारम्भ में इराक पर अमेरिका द्वारा आरोपित युद्ध को इस सन्दर्भ में देखें तो न्यायप्रिय सम्पूर्ण विश्व समुदाय इराक के समर्थन में एकजुट होकर अहिंसक संघर्ष का मार्ग प्रशस्त कर सकता था। यह एक ऐसा संघर्ष होता जिसके आगे बुश के सर्वाधिक शक्तिशाली, सैन्यतंत्र को शर्मिन्दा होकर लौटना पड़ता^{१४} एवं एक स्वतंत्र राष्ट्र की सम्प्रभुता भी अखण्ड रहती।

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि एक पक्ष के अहिंसक प्रतिकार के बावजूद यदि दूसरा पक्ष अन्याय और हिंसा पर आमादा है तब ऐसी परिस्थिति में गाँधी जी का अन्यायी से निपटने हेतु क्या समाधान होगा ? इस प्रश्न के समाधान में गाँधी जी के अहिंसा सम्बन्धी विचार की व्यवहारिकता स्पष्ट हो जाती है। गाँधी जी का स्पष्ट मन्तव्य है कि अहिंसा के नाम पर पिटते रहना या अपमानित होते रहना उनका उद्देश्य नहीं है। देश, धर्म, स्वदेशीपन और स्वाभिमान के लिए वे हिंसा को क्षम्य मानते हैं। निश्चित ही बापू अहिंसा शस्त्र को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते हैं किन्तु इस कथन से तात्पर्य निकालना भ्रान्ति है कि बापू हाथ में शस्त्र उठाने के विरोधी

हैं, ऐसा सोचना अहिंसा के क्षेत्र को संकुचित करना है। वे कार्य के हेतु को अहिंसा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

गाँधी जी अहिंसा को मनःस्थिति या कार्य के हेतु पर आधारित मानते हैं। उनके विचार में अहिंसक कार्य हिंसक हो सकता है एवं हिंसक कार्य अहिंसक। उनकी यह नीति युद्ध के लिए व देश की अन्तर्कलह में भी लागू होती है। वे कहते हैं ऐसी विषम परिस्थिति में दोनों पक्षों के मन्तव्य पर गौर किया जाना समीचीन होगा। यदि प्रथम पक्ष, जो हिंसा पर आमादा है, का हेतु शुभ नहीं है और वह द्वितीय पक्ष की प्रभुसत्ता का हनन करना चाहता है। इस स्थिति में यदि द्वितीय पक्ष अपने स्वाभिमान व प्रभुता की रक्षा हेतु तलवार उठाता है तब तलवार (युद्ध) बल को न मानते हुए भी द्वितीय पक्ष को समर्थन देंगे।^{१२} यह नीति व्यक्ति और राष्ट्र दोनों पर लागू होती है। इस आधार पर ही उन्होंने नाजियों के विरुद्ध पोलो द्वारा किये गए सशस्त्र युद्ध को उचित ठहराते हुए अहिंसक घोषित किया था।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गाँधी जी उसी युद्ध को अहिंसक नाम देते हैं जिसका उद्देश्य संरक्षण होता है, आक्रमण नहीं। यदि अकारण अन्याय अथवा अपमान थोपा जा रहा है तो कायरता या भय के कारण उसे सहन करना, महापाप है। इस प्रकार के अवसर पर यदि शान्तियुक्त साधन, अन्याय के निराकरण में असमर्थ हो जाते हैं तो अहिंसा के नाम पर पिटते रहना या अपमान सहते रहना गाँधी जी का उद्देश्य नहीं है। ऐसे अवसर पर हाथ में शस्त्र उठाना, हिंसा का नहीं, अहिंसा का प्रतीक होगा, क्योंकि यह मानव के कर्तव्य का आवश्यक पहलू है।

इस संदर्भ में ऐ अन्य उद्धरण से गाँधी जी के अहिंसा सम्बन्धी उपरोक्त दृष्टिकोण की पुष्टि हो जाती है। उन्होंने २६ सितम्बर १९४७ को प्रार्थना सभा में पाकिस्तान द्वारा किए गये अन्यायों के प्रति उपदेश देते हुए कहा कि 'मैं हमेशा इस तरह की लड़ाई के खिलाफ रहता हूँ। किन्तु, यदि पाकिस्तान से इन्साफ माँगने का कोई दूसरा रास्ता नहीं रह जाता और पाकिस्तान की जो गलतियाँ सिद्ध हो चुकी हैं उनकी तरफ ध्यान देने से वह इन्कार करता रहेगा व उन्हें हमेशा कम करके बताने का तरीका जारी रखेगा तो हिन्दुस्तानी संघ की सरकार लड़ाई छोड़नी ही होगी मगर अन्याय को सहन करने की सलाह में किसी को नहीं दे सकता। अगर किसी इन्साफ की बात में सारे हिन्दू नष्ट हो जायें तो मैं इसकी परवाह नहीं करूँगा।'^{१३} इस प्रकार गाँधी जी ने देश, धर्म, सम्प्रभुता और स्वाभिमान के लिए हिंसा को क्षम्य माना है। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि किसी राष्ट्र को अथवा किसी आतंकवादी संगठन को किसी दूसरे राष्ट्र की सम्प्रभुता नष्ट करने अथवा निर्धारित करने का अधिकार नहीं है प्रत्येक राष्ट्र को आत्मरक्षा हेतु यदि उसके अहिंसक साधन विफल हो जाते हैं तो उसे शस्त्र उठाने का अधिकार है।

अन्त में यह कह सकते हैं कि गाँधी चिन्तन के अनेकों पक्ष ऐसे हैं जो समाज और विश्व के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। विगत वर्षों में जिस तीव्र गति से विश्व में परिवर्तन परिलक्षित हुआ है गाँधी जी की सार्थकता भी उतनी ही बढ़ी है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने न केवल तत्कालीन अपितु भविष्य की समस्याओं को गम्भीरता से समझ लिया था और उनके अनुरूप ही अपने सिद्धान्तों को समय-समय पर परीक्षण कर परिस्थितियों के अनुकूल बना लिया था^{१४} इसलिए गाँधी जी का अहिंसा सिद्धान्त आज भी प्रासंगिक है।

वरिष्ठ प्रवाचक, दर्शन विभाग,
डॉ० हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म०प्र०)

सन्दर्भ

१. यंग इण्डिया, हिन्दी ११.८.१९२०.
२. गाँधी और विश्व शान्ति, प्रो० देवीदत्त शर्मा, पृ० २४, अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी-१९६१.
३. परिसंवाद-३, गाँधी : अहिंसा का व्यवहारिक पक्ष, वीरेन्द्र प्रताप सिंह, पृ० ५९, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-१९८३.
४. गाँधी वाणी, श्री रामनाथ सुमन, पृ० ३४९, साधना सदन, इलाहाबाद, १९५३.
५. परिसंवाद (२), पृ० १०३. रमेशचन्द्र तिवारी का लेख, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-१९८३.
६. परिसंवाद (३), भारतीय चिन्तन में नवीन सम्भावनाएँ, भाग-२, पृ० १४२.
७. परिसंवाद (३), भारतीय चिन्तन में नवीन सम्भावनाएँ, भाग-२, पृ० ६१.
८. गाँधी-मार्ग, वर्ष-२, अंक-३, पृ० १५०.
९. हिन्दी नवजीवन, १-६-२४, पृ० ३३६.
१०. हरिजन, १-९-४०, पृ० २७१, सर्वोदय तत्त्वदर्शन, गोपीनाथ धवन, पृ० ५९.
११. संकटों के समाधान और बापू के यंत्र, दैनिक भास्कर, २ अक्टूबर १९०४.
१२. गाँधी और विश्वशान्ति, प्रो० देवीदत्त शर्मा ५०-५१, अखिल भारतीय सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी-१९६०.
१३. कृष्ण और गाँधी की अहिंसा, नारायण सिंह, पृ० १६१, किताब महल, इलाहाबाद-१९५१.
१४. दैनिक भास्कर, २-९-०४.



धर्म और नारी

डॉ० उषा किरण

एक बार जरथुस्त्र एक वृद्धा से पूछता है, “बताओ, स्त्री के बारे में सच्चाई क्या है ?” वृद्धा कहती है- “बहुत सी सच्चाईयाँ ऐसी हैं जिनके बारे में चुप रहना ही बेहतर है। हां ! अगर तुम औरत के पास जा रहे हो तो अपना कोड़ा साथ ले जाना मत भूलना।” नीत्शे: ‘जरथुस्त्र उवाच’ से।

यह है हजारों साल से चले आ रहे धर्म का सार-स्त्री के संदर्भ में। धर्म के पक्ष में अक्सर यह कहा जाता है कि मूलतः सभी धर्म मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए हैं और उसकी दृष्टि में सभी मनुष्य बराबर हैं। परन्तु यह दावा बिल्कुल निराधार है। यह सही है कि हर धर्मग्रन्थ में उच्चादर्शों की वकालत है। परन्तु, जब हम समग्रता में देखते हैं तो वेद हों या पुरान, बाइबिल हो या कुरान, किसी भी धर्मग्रंथ में स्त्री को पुरुष के समान अधिकार नहीं दिया गया है। प्रायः सभी धर्मों ने स्त्री की स्वतंत्र सत्ता से इन्कार करते हुए उसे पुरुष के अधीन माना है। नारी, शूद्र और गुलामों को धर्म के नाम पर पददलित और शोषित करने की घटनाओं से एक ओर जहाँ इतिहास के पृष्ठ-दर-पृष्ठ रंगे हुए हैं, वहीं वर्तमान में भी धर्म के नाम पर नारी उत्पीड़न की जड़ें चारों ओर फैली हुई हैं।

विश्व में नारी का अतीत :

नारी समाज की आधारशिला है, मानव सभ्यता के विकास में उसकी सृजनात्मक भूमिका रही है। प्रकृति को संस्कृति का स्वरूप देने और उसे विकृतियों से बचाने में उसका अनुपम योगदान रहा है। परन्तु सम्पूर्ण विश्व स्तर पर नारी धर्म के नाम पर शोषित और उत्पीड़ित हुई हैं।

थ्यूसीडाइयडीज की सम्मति भी है कि जिस प्रकार किसी सभ्य स्त्री का शरीर उसके मकान के अन्दर बन्द रहता है, वैसे ही उसका नाम भी बन्द रहना चाहिए। सुकरात यह मानते थे कि नारी सभी बुराइयों का मूल है, उसका प्यार पुरुषों की घृणा से अधिक भयावह होता है। अरस्तू के अनुसार नारी की तुलना में पुरुष स्वभावतः श्रेष्ठ होता है क्योंकि नारी इच्छाशक्ति में निर्बल, नैतिकता में शिथिल और विचार-विमर्श में अपरिपक्व होती है। प्राचीन यूनानी और रोमन समाज में स्त्रियाँ पुरुषों की सम्पत्ति समझी जाती थीं। यूनान का अभिजात्य वर्ग बड़े गर्व के साथ यह कहता है कि वेश्याएँ उनका मनोरंजन करती हैं, उपपत्नियाँ दैनंदिन स्वास्थ्य-रक्षण करती हैं और पत्नियाँ उनकी वैध संतानों को जन्म देने के साथ-साथ स्वामिभक्त

गृहस्वामिनी होती हैं। प्राचीन विधि की निरंकुशता पर आक्रोश व्यक्त करते हुए गिबन ने कहा है कि नारी अनुसरण और आशा पालन के लिए आजीवन अभिशप्त थी तथा बुद्धि और विवेक की उससे कोई अपेक्षा नहीं की जाती थी। नारी सम्बन्धी विचारों की दृष्टि से ईसामसीह स्वयं अनुदार नहीं थे, किन्तु ईसाई धर्म के देवदूतों और प्रारम्भिक पादरियों के उद्गार नारी की छवि को कलुषित करने के लिए अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन जापान में स्त्रियाँ प्रार्थनाओं तथा अन्य धार्मिक अधिकारों से पूर्णतः वंचित थीं। प्राचीन चीन में भी उन्हें देवाल्यों के प्रवेश का अधिकार नहीं दिया जाता था। चीन के प्राचीन धर्मज्ञों का मत था कि पत्नी की बात तो सुननी चाहिए, किन्तु कार्य ठीक उसके विपरीत करना चाहिए। स्पेन के लोग संकल्प लेते थे कि वे दुष्ट स्त्रियों से बचेंगे और सुन्दर स्त्रियों के मोह-पाश में बन्दी नहीं बनेंगे। इटली के प्राचीन निवासी कहा करते थे कि जैसे घोड़ा चाहे अच्छा हो या बुरा, उसे एड़ लगाना आवश्यक होता है, वैसे ही स्त्री चाहे अच्छी हो या बुरी, उसकी ताड़ना आवश्यक होती है। स्त्रियों के प्रति प्राचीन अरबवासियों का दृष्टिकोण और भी क्रूरतापूर्ण था। अरब समाज में पुत्री का जन्म अशुभ माना जाता था और वहाँ के लोग प्रायः पुत्रियों को जीवित दफन कर दिया करते थे। संसार में ऐसे लोग भी हैं जो दीर्घकाल तक यह मानते रहे कि स्त्रियों में आत्मा का अस्तित्व ही नहीं होता। उदाहरणार्थ, प्राचीन रूस में यह मान्यता थी कि दस स्त्रियों के बीच केवल एक आत्मा होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में स्त्री कमोवेश अशुभ, मोहिनी, पाप की जन्मदात्री आदि रूपों में चित्रित हुई है। विचारणीय है कि स्त्री के प्रति इस दुर्भावना की जड़ें धर्म के गर्भ में ही तो नहीं पल रही थीं। इस सन्दर्भ में हम विभिन्न धर्मों में नारी की स्थिति की चर्चा करेंगे।

ईसाई धर्म में नारी की स्थिति :

कहने को तो मूलतः सभी महान् धर्मों में समानता का उपदेश निहित है। लेकिन जहाँ स्त्रियों के प्रति समान रुख अपनाने का सवाल आता है, वहाँ समानता की अवधारणा उपेक्षित, गौण या फिर भ्रष्ट हो जाती है। धर्म के नाम पर स्त्रियों को पददलित कर उन्हें मात्र उपभोग्य बनाकर विकास की पिछली कतार में धकेल दिया गया। “विकास में स्त्री सदा हाशिए पर ही रही, बाढ़ में आए खर-पतवार की तरह”। (‘थियोडोरा फोस्टर कैरोल’)

ईसाई धर्म बाइबिल के जिस एक मात्र स्तम्भ पर टिका है, वहाँ स्त्री को पाप के मूल के रूप में चित्रित किया गया है। द्रष्टव्य है : “ईश्वर ने अपनी आज्ञा नहीं मानने की सजा नारी को दी कि वह पीड़ा सहेंगी, गर्भ धारण करेगी क्योंकि उसने ईश्वर की नहीं, सर्प की बात मानकर वर्जित फल खाया। यह भी शाप दिया कि पुरुष तुम पर प्रभुता करेगा। तब से नारी शापित है।” (तौरत उत्पत्ति, पर्व ३)

औरतों के त्याग, बलिदान, रक्त से सींचे ईसाई धर्म में औरत को समान अधिकार तो दूर, उसे पुरुषों की तुलना में हीन बताया गया है। बाइबिल के अनुसार औरत का जन्म पुरुष की पसली से हुआ है। मध्ययुग के ईसाई समाज में स्त्रियों पर धर्म के नाम पर किए जाने वाले अत्याचार रोंगटे खड़े कर देने वाले हैं। पति द्वारा पत्नी को कोड़े मारना प्रेम का प्रतीक माना जाता था। स्त्री को कोड़े से मारे जाने के पीछे यह अन्धविश्वास जुड़ा हुआ था कि स्त्रियों और जानवरों के गुप्तांगो पर कोड़े मारने से प्रजनन में आसानी होती है, स्वास्थ्य अच्छा रहता है और फसल अच्छी होती है। स्त्रियों को पर पुरुष से सम्भोग से बचाने के लिए सुरक्षा कवच (चेस्टिटी बेल्ट) का उपयोग पति द्वारा उस समय किया जाता था जब वे परदेश अथवा युद्ध में जाते थे। संत पॉल ने न्यू टेस्टामेंट में कहा कि स्त्री को चुपचाप पूरी अधीनता सीखना चाहिए। वह उपदेश न करे क्योंकि आदम पहले आया और उसके बाद हव्वा बनायी गई। आदम बहकाया न गया, पर स्त्री बहकावे में आकर अपराधिनी हुई। (तिमूथियुस-२)

इस्लाम धर्म में नारी की स्थिति :

“औरतों के लिए शादी का मतलब गुलामी है। बस्ती की उस औरत और मेरे लिए कायदे- कानून तो सब एक से ही हैं। उसका खाविंद भी जब चाहे “तलाक, तलाक, तलाक” कह सकता है और मेरा शौहर भी। वह भी एक-एक कर चार बेगमें लाने की शान-शौकत दिखा सकता है। पति का मतलब ही है प्रभु। पत्नी अर्द्धांगिनी होकर भी पति का आधा भाग नहीं है। “अर्द्धांगिनी, सहधर्मिनी” शब्दों के पुलिंगवाचक शब्द भी कोष में हैं क्या ? (तस्लीमा नसरीन)

भारतीय परिवेश में मुस्लिम स्त्री की एक मात्र पहचान एक पर्दानशीन स्त्री, बुकें में घर की चार दीवारी में रहने वाली स्त्री व अनेक पुत्रों की माँ के रूप में चित्रित हुई है। उसका अस्तित्व अपने पति के रहमो-करम पर ही निर्भर है। खुलातलाक एवं तलाक-तफ़बीज को स्त्री का अधिकार है पर शायद ही वह व्यावहारिक जीवन में उसका इस्तेमाल करती है। पति के मौखिक तलाक तीन बार कह देने मात्र से उसका तलाक हो जाने की तलवार हर वक्त उसके सिर पर लटकी रहती है।

यह सच है कि हजरत मोहम्मद के नेतृत्व में मुस्लिम औरतों की स्थिति पहले की अपेक्षा बेहतर हुई। परन्तु स्त्री को यहाँ भी समानता के हक से वंचित रखा गया। बाइबिल की वही कथा यहाँ भी स्त्री को ‘पाप का मूल कारण’ के रूप में चित्रित करती रही है और फलतः स्त्री हिकारत की पात्र रही। पहले से चली आ रही बहुपत्नी प्रथा को इस्लाम ने बरकरार रखा। पुरुष की तुलना में स्त्री को कहीं भी बराबर नहीं माना गया है। सुरा: बकर २ की आयत

२२२ में स्त्री को पुरुष की खेती बताया गया है, जिसे वह जैसे चाहे चरे। इसके अतिरिक्त इस्लाम इस अवैज्ञानिक धारणा को मानता है कि पहली स्त्री की रचना पुरुष के बाएं पैर की पसली से हुई है। बाद में दोनों ने मिलकर मानव-जाति की रचना की। अतः पुरुष के पैर से स्त्री की रचना होने के कारण वह पुरुष से हीन समझी गई।

हिन्दूधर्म में नारी की स्थिति :

सम्पूर्ण विश्व में उदारता की पताका फहराने वाला हिन्दू धर्म भी स्त्रियों के प्रति उदारतावादी रुख न रख सका। जिस युग को हिन्दू जाति का स्वर्णिम युग कहा जाता है उस युग में भी स्त्री हीन स्थिति में रहने के लिए बाध्य थी। वह पुरुष की भोग्या एवं वंशवृद्धि का साधन-मात्र समझी जाती थी। कथनी और करनी के बीच खाई हमारे यहाँ आरम्भ से ही रही है। सिद्धांत में मनु ने ‘यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः’ कहा, वहीं व्यवहार में उन्होंने स्त्री को पुरुष हित के साधन से अधिक कुछ नहीं माना तथा स्त्री की स्वतंत्र सत्ता से इन्कार किया। मनु, संत तुलसीदास आदि अनेक साधु-सन्तों, ऋषि-मुनियों एवं गुणियों के निम्नलिखित कथनों से प्राचीन काल में हिन्दू धर्म में नारी की स्थिति का हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं—

‘पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने, पुत्रश्च स्थविरे भावे, न स्त्री स्वातंत्रमर्हति ।’

‘‘महावृष्टि चलि फूटी किनारी, जिमि स्वतन्त्र भये निगरहिं नारी।’’

‘‘ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।’’

‘‘भ्रात पिता पुत्र उर गारी, पुरुष मनोहर निरखत नारी,

होई बिकलसक मनहिं न रोकी, जिमि रवि मनि द्रवहिं विलोकी।’’

रामचरितमानस के उक्त कथनों में यह स्पष्ट झलक है कि अपने कामान्ध पति को देखकर रत्ना के धिक्कार ने तुलसीदास को समस्त नारी के प्रति पूर्वाग्रह और दुर्भावना का शिकार बना दिया।

मनु और तुलसीदास के अतिरिक्त अर्थ और कूटनीतिशास्त्र के रचयिता चाणक्य भी स्त्री के प्रति दूषित सोच से मुक्त न हो सके, फलतः कहा—

‘अनृतं साहसंमाया मूर्खत्वमति लोमिता,

अशौचत्वं निर्दयत्वं स्त्रीणां दोषा स्वभावजाः ।।’’

(चाणक्य नीति द्वितीय अध्याय)

अर्थात् झूठ बोलना, उतावलापन, छल, मूर्खता, अत्यन्त लालच, अशुद्धता और निर्दयता, ये सब दोष स्त्रियों में स्वभावतः होते हैं। औरतों में ऐसे ही दोष शुक्राचार्य ने भी

गिनाए हैं। इसके अतिरिक्त राम का निर्दोष सीता की अग्नि-परीक्षा लेना, परीक्षा में खरा उतरने के बावजूद एक नादान धोबी के कहने पर गर्भवती अवस्था में उसका त्याग हमें सोचने के लिए विवश करता है कि रामराज्य में रानी की जब ऐसी स्थिति थी तो सामान्य स्त्रियों की क्या दुर्दशा रही होगी। ज्ञातव्य है कि एडवर्ड आठवें ने अपनी पत्नी को कुछ लोगों द्वारा रानी के रूप में स्वीकार न करने पर अपना राजपाट छोड़ दिया था। हाँ इतना अवश्य है कि वह एक सामान्य मनुष्य था, न कि अवतार। शायद इसीलिए डॉ० पी० एच० गुप्ता ने कहा है— “रामायण पढ़ने वाली प्रत्येक भारतीय नारी ईश्वर का धन्यवाद करेगी कि उसे रामराज्य में नहीं आधुनिक भारत में जन्म मिला है।”

—रामायण एक नया दृष्टिकोण (डॉ० पी० एच० गुप्ता)

यह सच है कि वैदिक काल में स्त्रियों की प्रतिष्ठा मिली थी तथा स्त्रियों द्वारा यज्ञ-कार्य में भागीदारी निभाने से लेकर ऋचाओं की रचना करने के उदाहरण भी दिखते हैं। परन्तु ध्यातव्य है कि गार्गी, मैत्रेयी, अश्वघोषा और लोपामुद्रा के उदाहरणों का सामान्यीकरण करना हमारी भूल होगी।

समय ने करवट ली, स्त्री की स्थिति अपेक्षाकृत बेहतर हुई। परन्तु धर्म के नाम पर स्त्री का उत्पीड़न आज भी जारी है। भारत में देवराला की रूपकुँवर को उसकी इच्छा के विरुद्ध ससुराल वालों ने पति के शव के साथ जिन्दा जल मरने को बाध्य किया गया और बाद में उसकी हत्या को गौरवमंडित किया। इतना ही नहीं, इस हत्याकांड को एक जश्न का रूप दिया गया जिसमें हमारे देश की तथाकथित बड़ी-बड़ी हस्तियाँ शामिल हुईं। धर्म के नाम पर दक्षिण भारत में ‘देवदासी’ या ‘गणिका’ प्रथा आज भी छिटपुट रूप में ढोयी जा रही है जबकि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मिस्त्र, बेबीलोन, यूनान, सीरिया, रोम आदि देशों में यह कुप्रथा विलुप्तप्राय हो गई है।

इस प्रकार एक ओर स्त्री की अस्मिता से सम्बन्ध वाले स्वतंत्रता, शिक्षा, समानता एवं अधिकारों के बुनियादी सवाल हैं, तो दूसरी ओर नारी को उपभोग की सामग्री तथा प्रजनन की मशीन मात्र बनाने वाले धार्मिक संस्कार रूढियाँ परम्पराएँ और अन्धविश्वास। परन्तु नारी की इस स्थिति के लिए पुरुष ही नहीं, नारी स्वयं भी जिम्मेदार है। पुरुष की श्रेष्ठता, उसके वर्चस्व को स्थापित कर स्त्री की मर्यादा को अपदस्थ करने वाले संस्कार, रीति-रिवाजों और प्रथाओं को अगली पीढ़ी तक संवाहित करने वाली अधिकांशतः नारी ही होती है। अनपढ़ अथवा निरक्षर स्त्रियों के साथ-साथ उच्च शिक्षा प्राप्त अनेक स्त्रियों के साथ ऐसा देखा गया है कि जागरूकता और परिवर्तन की इच्छा के अभाव में अपने ऊपर लादे-थोपे गए संस्कारों

को अपना धर्म समझ कर स्वयं तो पालन करती ही हैं, अपनी बहू-बेटियों में भी उन संस्कारों का पोषण और संवर्द्धन करती हैं। फलस्वरूप, स्त्री-स्वतंत्रता एवं समानता का विरोध पुरुष से ज्यादा स्त्रियों में होता है। समाज की अधिकांश स्त्रियों में आज भी जड़ धार्मिक संस्कार इतने गहरे पैठ हुए हैं कि उन्हें निर्मूल करना उन स्त्रियों के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है जो तथाकथित ‘धर्म’ के पिंजड़े को तोड़ कर समरसता के खुले आसमान में स्वशासित एवं सुशासित उड़ान भर रही है।

नारी को इस स्थिति में तथाकथित धर्म ने पहुँचाया है। पश्चिम में नारी को जो कुछ हासिल हुआ है, वह धर्म का काफी हद तक नकार कर हुआ है। फलतः युग की मांग है कि धर्म की जिन बेड़ियों को पाजेब समझ कर उसे बड़े प्यार से पहन रखा है, उन्हें तोड़ कर फेंक दे, अपनी सोच को विस्तार दे और एक स्वस्थ, सुन्दर एवं समरस समाज के निर्माण का आधार बने।

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र

राँची विमेंस कॉलेज, राँची

संदर्भ-सूची

१. रामचरितमानस : संत तुलसीदास
२. धर्म के नाम पर : गीतेश शर्मा
३. रामायण : एक नया दृष्टिकोण, डॉ० पी० एच० गुप्ता
४. मनुस्मृति
५. आदमी की निगाह में औरत : राजेन्द्र यादव



धर्म मीमांसा

डॉ० मीरा द्विवेदी

मानव के विशेषाधिकारों, कर्तव्यों, बन्धनों का द्योतक, आचार विधि का परिचायक, वर्णाश्रम का द्योतक, जो एक निश्चित नियम, व्यवस्था एवं सिद्धान्त है, वह है 'धर्म'। धृञ् धारणे धातु से धर्म शब्द की निष्पत्ति हुई है। ऋग्वेद में धर्म धार्मिक विधियों या धार्मिक क्रिया-संस्कारों के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है।

अथर्ववेद में धर्म "धार्मिक क्रिया संस्कार से अर्जित गुण" है। छन्दोग्योपनिषद् के अनुसार धर्म की तीन शाखाएं स्वीकार की गयी हैं। (१) यज्ञ, अध्ययन एवं दान अर्थात् गृहस्थधर्म। (२) तपस्या अर्थात् तापस् धर्म। (३) ब्रह्मचारित्व। यहाँ धर्म आश्रमों के विलक्षण कर्तव्यों की ओर संकेत कर रहा है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में धर्म- "सत्यं वद" "धर्मं चर"। भगवद्गीता के अनुसार 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति में सभी वर्णों के धर्मों की प्रस्तुति की गयी है। मनुस्मृति के व्याख्याकार मेघातिथि ने धर्म के पाँच स्वरूप माना (१) वर्ण धर्म, (२) आश्रम धर्म (३) वर्णाश्रम धर्म (४) नैमित्तिक धर्म (५) गुण धर्म।

महाभारत में धारणाद् धर्म इत्याहुः अर्थात् धारण किया जाने वाला धर्म है। वैशेषिक दार्शनिकों का कथन है- 'यतोऽभ्युदयनिश्रेयसिद्धिः सधर्मः' पूर्वमीमांसासूत्र के अनुसार धर्म को 'वेदविहित प्रेरक' लक्षणों के अर्थ में स्वीकार किया है। अर्थात् वेदों में प्रयुक्त अनुशासनो के अनुसार चलना। धर्म का सम्बन्ध उन क्रिया-संस्कारों से है जिससे आनन्द मिलता है और जो वेदों द्वारा प्रेरित एवं प्रशंसित है।

कुछ एकांगी परिभाषाएँ भी हैं यथा- 'अहिंसा परमो धर्मः'

'आनृंशस्यं परो धर्मः' (वनपर्व)

'आचारः परमो धर्मः' (मनुस्मृति)

मीमांसा मान् धातु से सन् और स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्ययों के योग से मीमांसा शब्द निष्पन्न होता है। मान् धातु का प्रयोग पूजा जिज्ञासा या विचार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अर्थात् कोई भी विचार मीमांसा नहीं है, अपितु पूजित विचार ही मीमांसा हो सकती है भामती टीकाकार वाचस्पति ने लिखा है 'पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः'।

किसी सन्दिग्ध वस्तु में निर्णय हेतु जिज्ञासा होती है और निर्णय विचार साध्य होता है। वाचस्पति मिश्र जी के अनुसार मान् धातु के पूजा तथा जिज्ञासा या विचार दोनों अर्थों की सङ्गति बैठ जाती है। किन्तु यह सङ्गति व्युत्पत्तिगत न होकर ऐतिहासिक होगी क्योंकि पूजितता अर्थ परमपुरुषार्थभूत सूक्ष्मतम ब्रह्मज्ञान के विषय में निर्णय देने के कारण है। इसी प्रकार जैमिनि नय के अनुसार परमपुरुषार्थभूत स्वर्ग आदि की प्राप्ति के विशिष्ट साधनों का प्रतिपादक या निर्णायक मानकर यहाँ भी वह अर्थ स्वीकार किया जा सकता है।

इस प्रकार निष्पत्तिगत पूजा, जिज्ञासा, विचार और पूजितविचार अर्थों को व्यक्त करने वाला मीमांसाशब्द 'धर्म विचारशास्त्र' अर्थ में रूढ़ हो गया। अर्थात् 'अथातो धर्म जिज्ञासा' अब प्रश्न उठता है क्यों धर्म जिज्ञासा करनी चाहिए? आज इसकी क्या उपयोगिता है? जब वेदाध्ययन का फल धर्म ही है अतः उसे सार्थक करने के लिए फलरूप धर्म का ज्ञान आपेक्षित है। प्रभाकर तथा उनके अनुयायियों के अनुसार वेदाध्ययन का फल धर्म न होकर स्वर्ग आदि है। कुमारिलभट्ट तथा उनके सम्प्रदाय के अनुसार वेदाध्ययन के दो प्रकार के फल हैं (१) दृष्ट (२) अदृष्ट। वेदाध्ययन दृष्ट फल है। लोकप्रत्यक्षयोग्य होने के कारण इसे दृष्ट संज्ञा दी गयी।

जो चक्षुओं से दृष्टिगोचर न हो वह अदृष्ट जैसे स्वर्गसुख आदि फल और प्राणी इस शरीर के अन्त होने पर ही धर्मकृत्यों के फल के रूप में इसका भोग अथवा शास्त्रों से इनके विषय में हुए शब्दज्ञान तथा इनके स्वरूप लोकप्रत्यक्ष योग्य नहीं है। इसी अवस्था में सामान्यतः दृष्ट को ही प्रधान माना जाता है। क्योंकि सिद्धान्त है -

'लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना'

जैमिनि महर्षि द्वारा प्रतिपादित 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः'। चोदना पद के विधिरूप

वेद के अङ्ग का वाचक होने से प्रेरक विधि से लक्षित अर्थ धर्म है। चोदनापद् अर्थात् वेदप्रतिपाद्यः कहने से वेदशब्द उसके सभी भागों विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद का ग्रहण हो जाता है। जिसका अर्थ यह निकलता है कि इन पाँचों वेदभागों से धर्म का प्रतिपादन होता है। केवल विधिभाग से नहीं। चोदना शब्द से अर्थ और अनर्थ दोनों लक्षित होता है। निःश्रेयस के लिए किया गया ज्योतिष्टोमादि याग अर्थ है और प्रत्यवाय के लिए किया गया श्येनयाग वज्रइषुप्रभृति अनर्थ है। यहाँ विधायकवाक्य और निषेधवाक्य दोनों ही चोदना है, विधेय इष्ट होने के कारण धर्म है और निषेध अनिष्ट होने के कारण अधर्म है। अर्थात् जिस कर्म में इष्ट साधनत्व, कृति साध्यत्व तथा बलवदनिष्ठाननुबन्धित्व तीनों हो, वह कर्म प्रशस्त कहा जाता है तथा प्रशस्त कर्म ही धर्म है। जिसका विस्तार स्वरूप विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद इन पाँच भागों से प्रतिपादित है और सबको किसी न किसी क्रियार्थक सिद्ध कर देते हैं, जिसमें उनकी सार्थकता अक्षुण्ण रह जाती है। प्रवर्तक होने से विधि की क्रियार्थकता तथा प्राधान्य स्वतः सिद्ध है। मन्त्र भाग की सार्थकता इसमें है कि वे प्रयोग में समवेत अर्थ का स्मरण कराते हैं। 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः'। नामधेय अर्थ का स्पष्टतः पृथक रूप में बोधन होता है 'नामधेयानां च विधेयार्थ-परिच्छेदकतयार्थवत्वम्' अर्थवाद वाक्य प्रशस्त्य या निन्दा का ज्ञान लक्षण द्वारा करा-कर सार्थक होते हैं। अर्थात् प्रशस्ति या निन्दा के वाचक वाक्य स्वयं नहीं अपितु देवता, द्रव्य आदि के साथ उनके गुण दोषों का प्रदर्शन का प्रवर्तन या निवर्तन में सहायक होता है।

निषेध तो पुरुष को निषिद्ध कर्म से निवृत्त करता है। 'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः' वेद के पाँच भाग विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद मनुष्य के हार्द को अभिव्यक्त करते हुए कृत्याकृत्य के विवेचक है जिसमें धर्म प्रमुख है। यह वैदिकपरम्परा के निष्ठावान साधकों के लिए करणीय है। साम्प्रतिक युग में जो शास्त्रनिष्ठा वाले नहीं

हैं वे शास्त्रविधेयकता के कारण पृथक-पृथक मत रख सकते हैं पर भारतीय परम्परा धर्म का संक्षिप्त स्वरूप ही मेरे लेख का उद्देश्य है अतः उसे ही प्रस्तुत किया गया है।

बडोदरा संस्कृतमहाविद्यालय
एम० एस० यू० बडोदरा,
गुजरात।



धर्म-मीमांसा और गाँधी

डॉ० नृपेन्द्र प्रसाद मोदी

सुनीता कुमारी चौरसिया

भारतीय साहित्य में 'धर्म' शब्द सबसे पहले ऋग्वेद में मिलता है, वहाँ और उसके बाद के वैदिक साहित्य में धर्म शब्द का अर्थ ऊँचे धरातल पर है। वह प्रकृति के या ईश्वर के नियमों के लिए प्रयुक्त होता है। धर्म भारतीय दर्शन की महत्वपूर्ण अवधारणा है। धर्म की उत्पत्ति संस्कृत के 'धृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है- 'धारण करना'। जो धारण करता है वह धर्म है, अर्थात् जिसके कारण सभी वस्तुओं का अस्तित्व बना रहता है, वही धर्म है। वेद व्यास ने धर्म शब्द की व्याख्या की है -

नमो धर्माय धर्मो धारयति प्रजाः ।

यत् स्यात् धारण संयुक्त स धर्म इत्युवाहत् ।।

अर्थात् उस मानव धर्म को प्रणाम है, जो सब मनुष्यों को धारण करता है। सबको धारण करने वाले जो नियम हैं, वे धर्म हैं।

धर्म क्या है, धर्म के प्रति दृष्टिकोण को जानने के लिए इतिहास का सहारा लिया जा सकता है। महाभारत में तीन बार युधिष्ठिर से धर्म के बारे में पूछा गया है, तीन बार युधिष्ठिर ने उत्तर दिया है- नृशंस नहीं होना, करुण होना, यही धर्म है, यही सारे धर्मों की कसौटी है और इस कसौटी पर जो खरा नहीं उतरता, वह जितना भी पराक्रमी क्यों न हो, वह छोटा हो जाता है। हिन्दू धर्म-शास्त्रों में धर्म के इस व्यापक रूप की अनेक चर्चा है 'मनु' कहते हैं धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय, धृ, निग्रह, विद्या, सत्य और अक्रोध ये धर्म के दस लक्षण हैं। (मनुस्मृति, ६/२२) श्रीमद् भगवत् गीता में यह संख्या बढ़ाकर इक्कीस कर दी गई है (७/१० श्लोक ८-१०) वस्तुतः इस रूप में धर्म का रूप विराट है। वह सम्पूर्ण मानव जाति की कल्याण कामना और शुभाचरण है। क्योंकि धर्म का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ धारण करना (धारयति इति धर्म) है। कर्तव्य, स्वभाव, पर्याप्त आदि अनेक अर्थों में भी धर्म शब्द प्रयुक्त होता है। धर्म भारतीय संस्कृति में एक प्रिय संबोध रहा है। धर्म शब्द अनेकार्थक रहा है। धर्म के विषय में शास्त्रों में बहुत कुछ कहा गया है।^५ आचार्य चतुर सेन ने लिखा है कि धर्म वह है जिससे हृदय और मस्तिष्क का पूरा विकास हो, दया धर्म है,

२६

वर्ष ५२ - दार्शनिक त्रैमासिक - अंक २

सहनशीलता धर्म है, उदारता धर्म है, सहायता धर्म है, उत्साह धर्म है, त्याग धर्म है।^६ धर्म के इन सामान्य सर्वोपयोगी और विराट् अर्थ के अतिरिक्त एक विशिष्ट अर्थ भी है। धृति, दया, क्षमा, अस्तेय, त्याग ब्रह्मचर्य आदि ऐसे लक्षण हैं, जो सम्पूर्ण मानव जाति के लिए हितकारी है। परन्तु इन सामान्य धर्मों के अतिरिक्त विशिष्ट वर्गों के लिए हमारे शास्त्रों ने कुछ विशिष्ट कर्म भी माने हैं जो सामान्य धर्मों के साथ-साथ उन वर्गों के लिए विशेष रूप से पालनीय हैं क्योंकि वे उनके लिए सहज अथवा स्वभावगत हैं, अर्थात् उन्हें जन्मतः या संस्कारों से प्राप्त हुए हैं। गीता में इसके लिए 'स्वधर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है (२/३१, ३३ एवं ३/३४)। स्मरणीय तथ्य यह है कि स्वधर्म, विश्वधर्म, सामान्य धर्म या मानव धर्म में बाध नहीं हो, यह अनिवार्य आवश्यक है।^६

गाँधी जी धर्म के अर्थ तथा मानव-जीवन में उसके महत्व पर विचार करते हुए 'धर्म' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में करते हैं। वे धर्म को किसी सम्प्रदाय विशेष के दार्शनिक सिद्धान्तों और रीति-रिवाजों तक ही सीमित नहीं मानते। उनका विचार है कि धर्म मनुष्य की आत्मशुद्धि करता है और उसे संकुचित साम्प्रदायिक भेद-भाव से ऊपर उठाकर मनुष्य मात्र में एकता स्थापित करता है। वह मनुष्य को विश्व के रचयिता ईश्वर की खोज करने और उसके साथ सम्बद्ध हो जाने के लिए प्रेरित करता है। इस व्यापक अर्थ में 'धर्म' शब्द हिन्दू, ईसाई आदि किसी विशेष सम्प्रदाय का बोध नहीं कराता अपितु यह विश्व की नैतिक व्यवस्था में मनुष्य के विकास का द्योतक है। यह धर्म हिन्दुत्व, इस्लाम, ईसाई धर्म आदि सभी धर्मों से ऊपर और उनका आधार है। यह व्यापक धर्म इन सभी धर्मों में अंतिम एकता स्थापित करता है।^७

गाँधी के अनुसार धर्म वह शक्ति है जो मनुष्य के स्वभाव को पूर्णतया परिवर्तित कर देता है, जो मानव को सत्य के साथ जोड़कर आत्म शुद्धि का साधन बन जाता है। धर्म का मूल मंत्र है- अहिंसा, दया, मैत्री, करुणा, अभय और समता। गाँधी का धर्म नीति धर्म है। नीति रूप बीज धर्म रूपी जल से सिंचित होकर अंकुरित होता है। मानव कल्याण और निष्काम नैतिकता भी धर्म है। गाँधी के अनुसार धर्म व्यवहारिक जीवन से संबंधित है। इस प्रकार धर्म सांसारिक है, यह परलोक की वस्तु नहीं है। अतः गाँधी जी का मानना है कि जो धर्म व्यवहारिक समस्याओं पर ध्यान देता, उसके समाधान में मदद नहीं करता तो वह धर्म ही नहीं है। धर्म जीवन पद्धति है। 'यंग इंडिया' में उन्होंने लिखा है 'जब से मैंने यह जाना

है कि सार्वजनिक जीवन क्या है तब से मेरे प्रत्येक शब्द और कर्म के मूल में धार्मिक चेतना और नितान्त धार्मिक हेतु रहे हैं।^{१८} धर्म का तात्पर्य है अपने को दीप्त प्रतिभा और ज्ञान चैतन्य के बल पर ब्रह्मांड रहस्य जान लोक कल्याणार्थ उसे उपयोग में लाना। जो इन ओर प्रयत्नशील है उन्हें ही धार्मिक कहा जा सकेगा।^{१९}

वस्तुतः गाँधी जी ऐसे व्यापक धर्म को ही मानव जीवन के लिए अनिवार्य मानते हैं, किसी साम्प्रदायिक धर्म को नहीं। वे यह नहीं कहते हैं किसी व्यक्ति के लिए हिन्दुत्व, इस्लाम अथवा कोई अन्य विशेष धर्म स्वीकार करना अनिवार्य है। उनका मत है यदि मनुष्य के हृदय में सच्चाई और पवित्रता है तो वह किसी भी धर्म में निष्ठा रखते हुए आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इसी कारण उन्होंने किसी भी उपाय द्वारा धर्म परिवर्तन के विचार का दृढ़तापूर्वक विरोध किया है।^{२०} इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि “धर्म परिवर्तन के प्रयास द्वारा विश्व में अशान्ति ही उत्पन्न होगी। धर्म पूर्णतः व्यक्तिगत मामला है। अपने-अपने धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करते हुए हमें एक दूसरे के उत्तम सिद्धान्तों को स्वीकार करना चाहिए और इस प्रकार ईश्वर तक पहुँचने के मानव-प्रयास में अपना योगदान देना चाहिए।.....मेरा अपना विचार यह है कि सभी महान धर्म मूलतः समान हैं। हमें दूसरे धर्मों का उसी प्रकार आदर करना चाहिए जिस प्रकार हम अपने धर्म का सम्मान करते हैं।^{२१}

गाँधी जी का मत सर्वधर्म समभाव के प्रति है। सब धर्म ईश्वर के दिये हुए हैं, लेकिन वे मनुष्य की कल्पना के धर्म हैं और मनुष्य उनका प्रयास करता है, इसलिए वे अपूर्ण हैं। ईश्वर का दिया हुआ धर्म पहुँच के परे अगम्य है। मनुष्य उसे (अपनी) भाषा में रखता है, उसका अर्थ भी मनुष्य करता है। किसका अर्थ सच्चा है? सब अपनी-अपनी दृष्टि से जब तक उस दृष्टि के अनुसार चलते हैं तब तक, सच्चे हैं। लेकिन सबक गलत होना भी नामुमकिन नहीं। इसीलिए हम सब धर्मों की ओर समभाव रखें। इससे अपने धर्म के लिए हममें उदासीनता नहीं आती, लेकिन अपने धर्म के लिए हमारा जो प्रेम है वह अन्धा न होकर ज्ञानवाला (ज्ञानमय) बनता है और इसलिए वह ज्यादा सात्त्विक, ज्यादा निर्मल बनता है। सब धर्मों की ओर समभाव हो तभी हमारे दिव्य चक्षु खुलेंगे। धर्माधता और दिव्य दर्शन में उत्तर-दक्षिण का अंतर है। धर्म का ज्ञान होने पर अड़चनें दूर होती हैं और समभाव पैदा होता है। यह समभाव मन में बढ़ाकर हम अपने धर्म को ज्यादा पहचानेंगे।^{२२} तब सवाल यह उठता है कि बहुत से धर्म किस लिए? धर्म बहुत से हैं यह हम जानते हैं। आत्मा यह है लेकिन

मनुष्य देह अनगिनत हैं। देहों का यह अनगिनत टाले नहीं टालता। फिर भी आत्मा की एकता को हम पहचान सकते हैं। धर्म का मूल एक है, जैसे पेड़ का एक है, लेकिन उसके पत्ते अनगिनत हैं।^{२३}

गाँधी जी अनेक लेखों तथा भाषणों द्वारा विश्व में धार्मिक सौहार्द स्थापित करने के लिए बहुत प्रशंसनीय प्रयास किए। विश्व में प्रचलित धर्मान्धता एवं धार्मिक दम्भ को निंदनीय मानते हुए गाँधी जी सभी धर्मों के अनुयायीयों से सदा यही कहा करते थे कि कोई भी धर्म किसी अन्य धर्म की अपेक्षा उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट नहीं है। जो व्यक्ति जिस धर्म में विश्वास करता है उसे उसी धर्म के श्रेष्ठ सिद्धान्तों के अनुसार निष्ठापूर्वक आचरण करते हुए अपने जीवन को पवित्र बनाना चाहिए और इस प्रकार अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयास करना चाहिए।^{२४} सभी धर्मों के विषय में अपनी इसी मान्यता के कारण गाँधी जी प्रायः यह कहा करते थे कि हिन्दू को अच्छा हिन्दू मुसलमान तथा ईसाई को अच्छा ईसाई बनने का प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म में विश्वास करते हुए अपनी नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि सभी धर्मों में इसके लिए पर्याप्त अवसर तथा सम्भावनाएं हैं। अपने धर्म में सुधार करने के लिए हमें अन्य धर्मों की अच्छी बातों को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए।^{२५}

गाँधी जी की आकांक्षा थी कि धर्म की रूढ़िगत सीमाओं से समाज को ऊपर उठकर सोचना और देखना चाहिए। पूजा स्थल किसी भी धर्म के हों, वे पवित्र हैं। ‘मंदिर, मस्जिद या गिरजा घर ईश्वर के इन भिन्न-भिन्न निवास स्थानों में कोई अंतर नहीं है। मनुष्य की श्रद्धा ने उनका निर्माण किया है और उन्हें जो माना है वही वे हैं।^{२६} हम देवालय में जाकर मूर्ति की पूजा करें या बिना मूर्ति के सजदा करें इसमें अनन्तर कुछ नहीं होता क्योंकि सबका लक्ष्य एकाग्रचित्त होकर ईश्वर की अनुभूति करना है। गाँधी जी ने धर्म की आत्मा के रूप में मन को एकाग्रचित्त और पवित्र रखने के लिए प्रार्थना को स्वीकार किया। उनका मानना है कि प्रार्थना या तो याचना के रूप में होती है यदि व्यापक अर्थ में वह ईश्वर से भीतरी लौ लगाना है।^{२७} गाँधी जी की दिनचर्या में जीवन भर प्रार्थना का बहुत महत्त्व रहा तथा सर्व धर्म प्रार्थना उसकी विशेषता थी। प्रार्थना करना मात्र उपासना का ही प्रतीक नहीं है बल्कि प्रार्थना हृदय की छानबीन का एक मार्ग है। ‘वह तो हमें ही यह स्मरण कराती है कि हम प्रभु के सहारे के बिना लाचार हैं। प्रार्थना के बिना कोई प्रयत्न सम्पूर्ण नहीं होता। प्रार्थना नम्रता की पुकार है वह आत्मशुद्धि का, आत्मनिरीक्षण का आह्वान है।^{२८}

गाँधी जी का हिन्दू धर्म के बारे में मानना है कि मैं अंतिम रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यदि सारे उपनिषद् तथा हमारे अन्य सारे धर्म ग्रंथ अचानक नष्ट हो जायें और यदि 'ईशोपनिषद्' का केवल पहला श्लोक हिन्दुओं की स्मृति में कायम रहे तो भी हिन्दू धर्म सदा जीवित रहेगा।^{२०} यह हिन्दू धर्म का सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य है कि वह कोई सत्तारोपित मत नहीं है। अतः अपने आप को किसी गलतफहमी से बचने के लिए मैंने कहा है कि सत्य और अहिंसा मेरा धर्म है। यदि मुझसे हिन्दू धर्म की व्याख्या करने के लिए कहा जाये तो मैं इतना ही कहूँगा अहिंसात्मक साधनों द्वारा सत्य की खोज। कोई मनुष्य ईश्वर में विश्वास न करते हुए भी अपने आपको हिन्दू कह सकता है। सत्य की अथक खोज का ही दूसरा नाम हिन्दू धर्म है। यदि आज वह मृतप्राय, निष्क्रिय अथवा विकासशील नहीं रह गया है तो इसलिए कि हम थककर बैठ गए हैं और ज्यों ही हिन्दू धर्म संसार पर ऐसे प्रखर तेज के साथ छा जायेगा जैसा कदाचित पहले कभी नहीं हुआ। अतः निश्चित रूप से हिन्दू-धर्म सबसे अधिक सहिष्णु धर्म है।^{२१}

महात्मा गाँधी के मतानुसार, धर्म की वास्तविक अभिव्यक्ति सदाचार है। उन्होंने धर्म को सरल रूप में सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य बनाने का सफल प्रयास किया। वास्तव में, धर्म बुद्धि ग्राह्य नहीं, परन्तु हृदय ग्राह्य है।^{२२}

सन्दर्भ

१. मिश्र, विद्यानिवास, (लेख) ओझल होती देश की पहचान, अणुव्रत (पाक्षिक पत्रिका), नई दिल्ली अखिल भारतीय अणुव्रत समिति, १ अक्टूबर, १९९३.
२. शर्मा, श्याम सनेही लाल, (लेख) साम्प्रदायिकता को राजनीति से पृथक किया जाये, धर्म को नहीं अणुव्रत (पाक्षिक पत्रिका), नई दिल्ली, १६ अक्टूबर १९९३, पृ० २२.
३. उपरिवत् पृ० २२.
४. मुनी, मदन कुमार, (लेख) अध्यात्म पथ का पाथेय, रत्नत्रयी, जैन विश्व भारती परिसर, लाडनू (राजन) अक्टूबर-९३ पृ० ३७७.

५. शर्मा, श्याम सनेही लाल, पूर्वोक्त, पृ० २२.
६. उपरिवत् पृ० २२.
७. देखिये, 'सलेक्शन्स फ्रॉम गाँधी' सम्पादक, निर्मल कुमार बोस, पृ० २५४-६.
८. गाँधी, म० क०, यंग इंडिया, भाग-३, पृ० ३५०.
९. माधवन, आनन्द शंकर, गाँधी साधना का मार्ग सन्धान, बांका (बिहार) अमरावती, मन्दिर विद्यापीठ, १९८६, पृ० २६.
१०. वर्मा, वेद प्रकाश, महात्मा गाँधी का नैतिक दर्शन, दिल्ली, इन्दू प्रकाशन १९७९, पृ० ११३.
११. कुमारप्पा, भारतन, (सं०), हिन्दू-धर्म, पृ० २६०.
१२. गाँधी, म० क०, मंगल-प्रभात, अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, १९५८, पृ० ४६.
१३. उपरिवत्, पृ० ४६.
१४. उपरिवत्, पृ० ४७.
१५. वर्मा, वेद प्रकाश, पूर्वोक्त पृ० १४४.
१६. देखिये, 'सलेक्शन्स फ्रॉम गाँधी', पृ० २५७.
१७. हरिजन, १८ मार्च, १९३३.
१८. यंग इंडिया, २३ जनवरी, १९३०.
१९. हरिजन, ८ जून १९३५
२०. गाँधी, म० क०, हिन्दू धर्म क्या है? इंडिया, नेशनल बुक ट्रस्ट, १९९३, पृ० २१. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय खंड-३३, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, २४.४.१९२४, पृ० ५१६.
२२. माचवे, प्रभाकर एवं दफ्तुआर, सुरेन्द्र नारायण, विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना, बिहार हिन्दी ग्रंथ एकादमी, पटना-१९७४, पृ० ३६.

